मूलाचार का अनुशीलन

कैलाशचन्द्र शास्त्री, संपादक जैनसंदेश, बनारस

१. मुनि आचार का महत्त्व

जैन धर्म आचार प्रधान है। आचार को चारित्र भी कहते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार के प्रारम्भ में 'चारित्तं खलु धम्मो' लिखकर चारित्र को ही धर्म कहा है। चारित्र के दो प्रकार हैं। एक श्रावकों को चारित्र, दूसरा मुनियों का या श्रमणों का या अनगारों का चारित्र, किन्तु निवृत्तिप्रधान जैन धर्म का मौलिक चारित्र मुनियों का चारित्र है। पञ्च परमेष्ठी में सब नीचे का दर्जा मुनियों का है। मुनिधर्म से ही सर्वोच्च परमेष्ठी पद प्राप्त होता है। प्राचीन परम्परा के अनुसार यह विधान था कि मुनि को अपने श्रोताओं के सन्मुख सर्वप्रथम मुनिधर्म का ही उपदेश देना चाहिये, श्रावक धर्म का नहीं, क्यों कि संभव है श्रोता उच्च भावना लेकर आया हो और श्रावक धर्म को सुनकर वह उसी में उलझ जाये। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के प्रारम्भ में आचार्य अमृतचन्द्रजी ने इस विधान का निर्देश करते हुए लिखा है—

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।
तस्यभगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ॥१८॥
अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्यः।
अपदेऽपि सम्प्रवृत्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ॥१९॥

जो अल्पबुद्धि उपदेशक मुनिधर्म का कथन न करके गृहस्थधर्म का उपदेश करता है उस उपदेशक को जिनागम में दण्ड का पात्र कहा है। क्योंकि उस दुर्बुद्धि ने क्रम का उल्लंघन करके धर्म का उपदेश दिया और इससे अति उत्साहशील श्रोता अस्थान में सन्तुष्ट होकर ठगाया जाता है।

इसमें मुनिधर्म का प्रथम व्याख्यान न करके गृहस्थ धर्म के व्याख्याता को अल्पमति और दुर्बुद्धि कहा है तथा गृहस्थ धर्म को अपद कहा है। वस्तुतः मुमुक्षु का वह पद नहीं है। पद तो एकमात्र मुनिधर्म है। आचाराङ्ग में उसी का कथन था, श्रावक धर्म का नहीं, तथा उससे द्वादशांग में प्रथमस्थान इसीसे प्राप्त है। अतः जैन धर्म में मुनियों का चारित्र ही वस्तुतः चारित्र है, असमर्थ श्रावक भी इसी उद्देश से श्रावक धर्म का पालन करता है कि मैं आगे चलकर मुनिधर्म स्वीकार करूंगा। श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएं उसीकी सोपान रूप हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. मुनि आचार का प्रथम ग्रन्थ

एक तरह से दिगम्बर परम्परा के आद्य आचार्य कुन्दकुन्द थे। सर्वप्रथम उन्हीं के ग्रन्थों में सवस्त्रमुक्ति और स्त्रीमुक्ति का स्पष्ट निषेध मिलता है और ये ही वे कारण हैं जिनसे संघभेद हुआ। आचार्य कुन्दकुन्द के पाहुड़ों में विशेष रूप से मुनियों को लक्ष कर के ही धर्म का निरूपण है, चारित्रपाहुड, भावपाहुड, मोक्षपाहुड, लिंगपाहुड, नियमसार और प्रवचनसार में मुनिधर्म का ही व्याख्यान है। किन्तु इनमें से किसी भी ग्रन्थ में मुनिधर्म के आचार का सांगोपांग वर्णन नहीं है। यद्यपि प्रवचनसार के चारित्राधिकार में मुनिदीक्षा, अट्ठाईस मूलगुण छेदोपस्थापना आदि का कथन है। किन्तु वह तो साररूप है, विस्तार रूप नहीं, इसीसे इनमें से किसी भी ग्रन्थ का नाम आचारपरक नहीं है और न कोई ग्रन्थ लुप्त आचाराङ्ग की समकक्षता ही करता है अतः दिगम्बर परम्परा में एक ऐसे ग्रन्थ की कमी बनी रहती है जो मुनिआचार का प्रतिनिधि ग्रन्थ हो। उस कमी की पूर्ति मूलाचार ने की है। उसके टीकाकार आचार्य वसुनन्दी ने अपनी उत्थानिका में जो भाव मूलाचार ग्रन्थ के प्रति प्रकट किये हुए है उनसे भी हमारे कथन का समर्थन होता है। उन्होंने लिखा है—

श्रुतस्कन्धाधारभूतमष्टादशसहस्रपरिमाणं मूलगुण–प्रत्याख्यानसंस्तर–स्तवाराधना समयाचार–पञ्चाचार–पिण्डशुद्धि–षडावश्यक–द्वादशानुप्रेक्षा – अनगारभावना - समयसार–शीलगुणप्रस्तार–पर्याप्त्याद्यधिकारनिबद्धमहार्थ-गम्भीरं लक्षणसिद्धपदवाक्यवर्णोपचितं घातिकर्मक्षयोत्पन्नकेवलज्ञानप्रबुद्धाशेषगुणपर्यायखचित–षड्द्रव्यनवपदार्थ-जिनवरोपदिष्टं द्वादशविधऽनुष्ठानोत्पन्नानेकप्रकारर्द्धिसमन्वितगणधरदेवरचितं मूलगुणोत्तरगुणस्वरूपविकल्पो-पायसाधनहायफलनिरूपणप्रवणमाचाराङ्गमाचार्य–पारम्पर्य–प्रवर्तमानमल्पबलमेधायुःशिष्यनिमित्तं द्वादशाधिकारैरुप-संहर्तुकामः स्वस्य श्रोतृणां च प्रारब्धकार्यप्रत्यूहनिराकरणक्षमं शुभपरिणामं विदधच्छ्रीवहकेराचार्यः प्रथमतरं तावन्मूलगुणाधिकारप्रतिपादनार्थं मङ्गलपूर्विका प्रतिज्ञां विधत्ते।

श्रुतस्कन्ध के आधारभूत, अठारह हजार पद परिमाणवाले, जो मूलगुण, प्रत्याख्यान, संस्तरस्तव, समयाचार, पञ्चाचार, पिण्डशुद्धि, षडावश्यक, द्वादशानुप्रेक्षा, अनगार भावना, समयसार, शीलगुणप्रस्तार और पर्याप्ति, अधिकार नामक अधिकारों में निबद्ध और बड़ा गम्भीर है। लक्षण-सिद्ध पद-वाक्य और वर्णों से समृद्ध है, घातिकर्मों के क्षय से उत्पन्न केवल ज्ञान के द्वारा समस्त गुणपर्यायों से युक्त छः द्रव्य और नौ पदार्थों के ज्ञाता जिनवर के द्वारा उपदिष्ट है, बारह प्रकार के तपों के अनुष्ठान से उत्पन्न अनेक प्रकार की ऋद्धियों से युक्त गणधर देव के द्वारा रचा गया है और मूल गुण तथा उत्तर गुणों के स्वरूप, भेद, उपाय, साधन, सहाय और फल निरूपण करने में समर्थ है, उस आचार्य परम्परा से प्रवर्तमान आचाराङ्ग को अल्प बल बुद्धि आयुवाले शिष्यों के लिये बारह अधिकारों में उपसंहार करने की इच्छा से अपने तथा श्रोताओं के प्रारब्ध कार्य में आने वाले विघ्नों को दूर करने में समर्थ शुभ परिणाम को करके श्री वहकेराचार्य सब से प्रथम मूलगुण नामक अधिकार का कथन करने के लिये मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं,।

यह उत्थानिका षट्खण्डागम और कसायपाहुड की टीकाओं के आरम्भ में वीरसेन स्वामी द्वारा रची गई उत्थानिकाओं के ही अनुरूप हैं। टीकाकार वसुनन्दि यह मानते हैं कि यह मूलाचार गणधर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रचित आचारांग का ही संक्षेपीकरण है और इसीकी तरह आचाराङ्ग में भी ये ही बारह अधिकार थे जो मूलाचार में हैं। किन्तु इसकी पुष्टि का कोई साधन नहीं है। श्वेताम्बर सम्मत आचारांग में तो इस नाम के अधिकार नहीं है, हां, द्वितीय श्रुतस्कन्ध के अन्तर्गत पिण्डैषणा अध्ययन है।

किन्तु इतना निर्विवाद है कि दिगम्बर परम्परा में आचारांग का स्थानापन्न मूलाचार है। वीरसेन स्वामी ने अपनी धवला टीका के प्रारम्भ में द्वादशांग का विषय परिचय कराते हुए आचारांग में १८ हजार पदों के द्वारा मुनियों के इस प्रकार के चारित्र का कथन है ऐसा कहते हुए जो दो गाथा दी है (पु.१, पृ.९९) वे मूलाचार के दसवें अधिकार में वर्तमान हैं इससे आचाराङ्ग के रूप में इसकी मान्यता, प्रामाणिकता और प्राचीनता पर प्रकाश पड़ता है।

३. मूलाचार की प्राचीनता

धवला टीका के प्रारम्भ में आचारांग में वर्णित विषय का निर्देश करते हुए जो दो गाथाएं दी गई हैं उससे ज्ञात होता है कि वीरसेन स्वामी के सन्मुख मूलाचार वर्तमान था।

किन्तु वीरसेन के पूर्वज आचार्य यतिवृषभ की तिलोयपण्णति में तो स्पष्ट रूप से मूलाचार का उल्लेख है। तिलोयपण्णति के आठवें अधिकार में देवियों की आयु के विषय में मतभेद दिखाते हुए लिखा है।

पलिदोवमाणि पंच य सत्तारस पंचवीस पणतीसं।
चउसु जुगले सु आऊ णादव्वा इंददेवीणं ॥५३१॥
आरण दुग परियंतं वड्ढंते पंचपल्लाइं।
मूलाआरे इरिया एवं णिउणं णि रूवेंति ॥५३२॥

अर्थात् चार युगलों में इन्द्र देवियों की आयु क्रम से पांच, सतरह, पच्चीस और पैंतीस पल्य प्रमाण जानना चाहिये। इसके आगे आरण युगल तक पांच पल्य की वृद्धि होती गई है ऐसा मूलाचार में आचार्य स्पष्टता से निरूपण करते हैं।

मूलाचार के बारहवें पर्याप्ति अधिकार में उक्त कथन उसी रूप में पाया जाता है। यथा—

पणयं दस सत्तधियं पणवीसं तीसमेव पंचधियं।
चत्तालं पणदालं पण्णाओ पण्ण पण्णाओ ॥८०॥

अर्थात् देवियों की आयु सौधर्म युगल में पांच पल्य, सानत्कुमार युगल में सतरह पल्य, ब्रह्मयुगल में पच्चीस पल्य, लान्तव युगल में पैंतीस पल्य, शुक्र महाशुक्र में चालीस पल्य, शतार सहस्रार में पैंतालीस पल्य, आनत युगल में पचास पल्य और आरण युगल में पचपन पल्य है।

किन्तु मूलाचार में ही इससे पूर्व की गाथा में अन्य प्रकार से देवियों की आयु बताई है। यथा—

पंचादी वेहि जुदा सत्तावीसा य पल्ल देवीणं।
तत्तो सत्तुत्तरिया जावदु अरणप्पयं कप्पं ॥७९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देवियों की आयु पांच पल्य से शुरू करके प्रत्येक युगल में दो बढाते हुए सत्ताईस पल्य तक, पुनः सात बढाते हुए आरण अच्युत कल्प तक जानना टीकाकार वसुनन्दिने ८० वी गाथा में बताई गई आयु को द्वितीय उपदेश कहा है।

और तिलोयपण्णत्ति में मूलाचार में उक्त प्रथम उपदेश के अनुसार बताई गई आयु को देते हुए लिखा है जो आचार्य सोलह कल्प मानते हैं वे इस प्रकार आयु कहते हैं। इस के बाद मूलाचार का मत दिया है। अर्थात सोलह स्वर्ग मानने वालों के दो मत हैं वे दोनों मत वर्तमान मूलाचार में हैं किन्तु तिलोयपण्णत्तिकार मूलाचार में दिये गये द्वितीय मत को मूलाचार का कहते हैं और प्रथम को सोलह स्वर्ग मानने वालों का मत कहते हैं। अर्थात् वह सामान्य मत है और दूसरा मत मूलाचार का है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि मूलाचार नामक ग्रन्थ यतिवृषभाचार्य के सामने वर्तमान था। किन्तु वह यही था और इसी रूप में था यह चिन्त्य है।

यहाँ यह भी दृष्टव्य है कि मूलाचार नाम मूल और आचार दो शब्दों के मेल से निष्पन्न है। इसमें से आचार नाम तो स्पष्ट है क्यों कि ग्रन्थ में आचार का वर्णन है। किन्तु उससे पहले जो मूल शब्द जोड़ा गया है यह वैसा ही जैसा मूल गुण का मूल शब्द अर्थात् मूलभूत आचार। किन्तु इसके साथ ही दिगम्बर परम्परा में मूलसंघ नाम का भी एक संघ था। यह सब जानते हैं कि भगवान् महावीर का अविभक्त संघ निर्ग्रन्थ संघ के नाम से विश्रुत था। अशोक के शिलालेखों में निगंठ्या निर्ग्रन्थ नाम से ही उसका निर्देश मिलता है। किन्तु धारवाड़ जिले से प्राप्त कदम्बवंशी नरेश शिवमृगेश वर्मा के शिलालेख (९८) में श्वेत पट महा श्रमण संघ और निर्ग्रन्थ महा श्रमण संघ का पृथक् पृथक् निर्देश है। अतः प्रकट है कि ईसा की ४–५ वीं शताब्दी में मूल नाम निर्ग्रन्थ दिगम्बर सम्प्रदाय को प्राप्त हो गया था। इसके साथ ही गंगवंशी नरेश माधववर्मा द्वितीय (ई. सन् ४०० के लगभग) और उसके पुत्र अविनीत के शिलालेखों में (नं. ९० और ९४) मूलसंघ का उल्लेख है। चूँकि जैन परम्परा का प्राचीन मूल नाम निर्ग्रन्थ दिगम्बर परम्परा को प्राप्त हुआ था अतः वह मूलसंघ के नाम से कहा गया। उसी का आचार जिस ग्रन्थ में वर्णित हो उसका नाम मूलाचार होना सर्वथा उचित है। मूलाचार का उल्लेख तिलोयपण्णत्ति में है और तिलोयपण्णत्ति ई. सन् की पांचवी शताब्दी के अन्तिम चरण के लगभग रची गई थी। अतः मूलाचार उससे पहले ई. सन् की चतुर्थ शताब्दी के लगभग रचा गया होना चाहिये।

मूलाचार की मौलिकता

मूलाचार एक संग्रह ग्रन्थ है ऐसा विचार कुछ वर्ष पूर्व एक विद्वान न प्रकाशित कराया था। पीछे उन्होंने उसे एक मौलिक ग्रन्थ स्वीकार किया। किन्तु मूलाचार में ऐसी अनेक गाथाएँ है जो अन्य ग्रन्थों में मिलती हैं। उदाहरण[1] के लिए मूलाचार में ऐसी अनेक गाथाएँ हैं जो श्वेताम्बरीय आवश्यक निर्युक्ति में भी हैं। ये गाथाएँ भी मूलाचार के षडावश्यक नामक अधिकार की हैं। इसीतरह मूलाचार के पिण्डशुद्धि

१. देखों अनेकान्त वर्ष २, कि. ३ तथा ५ में पं. परमानन्दजी के लेख।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिकार में भी कुछ गाथाएँ हैं जो पाठभेद या शब्दभेद के साथ श्वेताम्बरीय पिण्डनिर्युक्ति में पाई जाती है। मूलाचार की अनेक गाथाएँ ज्यों की त्यों भगवती आराधना में मिलती हैं। मूलाचार की तरह उक्त सभी ग्रन्थ प्राचीन हैं अतः किसने किससे क्या लिया यह शोध और खोज का विषय है। किन्तु इससे इतना तो सुनिश्चित रीति से कहा जा सकता है कि यह आचार्य कुन्दकुन्द की कृति नहीं हो सकती, यद्यपि प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में इसे उनकी कृति कहाँ है, क्यों कि कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में इस प्रकार की गाथाओं की बहुतायत तो क्या थोड़ी भी उपलब्धि नही होती जो अन्य ग्रन्थों में भी पाई जाती हों। प्रत्युत कुन्दकुन्द की ही गाथाएँ तिलोयपण्णत्ति जैसे प्राचीन ग्रन्थों में पाई जाती है और ऐसा होना स्वाभाविक है क्योंकि कुन्दकुन्द एक प्रख्यात प्रतिष्ठित आचार्य थे। इसके साथ ही हमें यह भी न भूलना चाहिए कि मूल में तो श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों धाराएँ एक ही स्रोत से निष्पन्न हुई हैं अतः प्राचीन गाथाओं का दोनों परम्पराओं में पाया जाना संभव है।

टीकाकार वसुनन्दि इसे वट्टकेराचार्य की कृति कहते हैं। किन्तु अन्यत्र कहीं भी इस नाम के किसी आचार्य का उल्लेख नहीं मिलता। साथ ही नाम भी कुछ ऐसा है कि उस पर से अनेक प्रकार की कल्पनाएँ[1] की गई हैं, किन्तु जब तक कोई मौलिक आधार नहीं मिलता तब तक यह विषय विवादापन्न ही रहेगा।

मूलाचार का बाह्यरूप

किन्तु इतना सुनिश्चित प्रतीत होता है कि टीकाकार वसुनन्दि को यह ग्रन्थ इसी रूप में मिला था और यह उनके द्वारा संगृहीत नहीं हो सकता उनकी टीका से या प्रत्येक अधिकार के आदि में प्रयुक्त उत्थानिका वाक्यों से किञ्चिन्मात्र भी ऐसा आभास नहीं होता। वे बराबर प्रत्येक अधिकार की संगति ही दर्शाते हैं।

मूलाचार में बारह अधिकार हैं—मूलगुणाधिकार, बृहत्प्रत्याख्यान संस्तर स्तवाधिकार, संक्षेप प्रत्याख्यानाधिकार, समाचाराधिकार, पंचाचाराधिकार, पिण्डशुद्धिअधिकार, षडावश्यकाधिकार, द्वादशानुप्रेक्षाधिकार, अनगारभावनाधिकार, समयसाराधिकार, शीलगुणप्रस्ताराधिकार, पर्याप्तिनामाधिकार।

प्रत्येक अधिकार के आदि में मंगलाचरण पूर्वक उस उस अधिकार का कथन करने की प्रतीज्ञा पाई जाती है किन्तु दूसरे और तीसरे अधिकार के आदि में उस प्रकार की प्रतिज्ञा नहीं है किन्तु जो सल्लेखना ग्रहण करता है उसके प्रत्याख्यान ग्रहण करने की प्रतिज्ञा है। मूल गुणों का कथन करने के पश्चात् ही मरण के समय होने वाली सल्लेखना का कथन खटकता है। दूसरे अधिकार की उत्थानिका में टीकाकार ने कहा है, 'मुनियों के छः काल होते हैं। उनमें से आत्म संस्कार, सल्लेखना और उत्तमार्थकाल तीन

१. देखों—जैनसिद्धान्त भास्कर (भाग १२, किरण १) में श्री. प्रेमी जी का लेख, तथा अनेकान्त (वर्ष ८, कि. ६-७) में मुख्तार जुगलकिशोरजी का लेख।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का कथन आराधना में किया जाता है शेष दीक्षा, शिक्षा और गणपोषण काल का कथन आचार में किया जाता है। यदि आदि के तीन कालों में मरण उपस्थित हो जाये तो उस समय इस प्रकार के (नीचे लिखे हुए) परिणाम करना चाहिये।'

शेष अधिकार यथास्थान व्यवस्थित है। अन्तिम पर्याप्तिअधिकार एक तरह से करणानुयोग की जीवविषयक चर्चा से सम्बद्ध है और उसका मुनि के आचार से सम्बन्ध नहीं है। किन्तु मुनि को जीव स्थान आदि का परिज्ञान होना आवश्यक है उसके बिना वह जीव रक्षा कैसे कर सकता है। इसी से टीकाकार ने उस अधिकार को 'सर्व सिद्धान्त करण चरण समुच्चय स्वरूप' कहा है। इन अधिकारों में क्रमशः ३६ + ७१ + १४ + ७६ + २२२ + ८२ + १९३ + ७६ + १२५ + १२४ + २६ + २०६ = १२५१ गाथा संख्या माणिकचन्द ग्रन्थमाला में मुद्रित प्रति के अनुसार है। उसमें कुछ अधिकारों में क्रमिक संख्या है और कुछ में प्रत्येक अधिकार की गाथा संख्या पृथक् पृथक् है।

विक्रम की बारहवीं शताब्दी में वीरनन्दि नाम के आचार्य ने संस्कृत में आचारसार नामक ग्रन्थ रचा था। इसमें भी बारह अधिकार हैं किन्तु उनका क्रम मूलाचार से भिन्न है तथा अधिकारों की संख्या समान होते हुए भी नाम भेद है। यथा मूलगुण, सामाचार, दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार, शुद्धयष्टक, षडावश्यक, ध्यान, पर्याप्ति, शीलगुण। इस तरह इसमें मूलाचारोक्त छै अधिकार हैं और पंचाचार को पांच अधिकारों में फैलाकार तथा शुद्धयष्टक और ध्यान का वर्णन पृथक अधिकारों में करके बारह संख्या पूर्ण की गई है। इस संख्या तथा विषय वर्णन की दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि मूलाचार की रचना के आधार पर ही यह रचा गया है।

इससे पूर्व में चामुण्ड राय ने भी चारित्रसार नामक ग्रन्थ रचा था। उसमें भी अनगारधर्म का वर्णन है किन्तु वह तत्त्वार्थसूत्र के नवम अध्याय में प्रतिपादित दशधर्म, अनुप्रेक्षा, परीषजय, चारित्र आदि को दृष्टि में रखकर तत्त्वार्थसूत्र के व्याख्याकार पूज्यपाद और अकलंक देव के अनुसरण पर रचा गया है। यद्यपि उसमें प्रसंगवश मूलाचार के पिण्ड शुद्धि नामक अधिकार की कुछ गाथाएं उद्धृत की हैं और उससे कुछ अन्य आवश्यक प्रसंग, षडावश्यक, अनगारभावना आदि लिये हैं।

पं. आशाधर ने अपना अनगारधर्मामृत उपलब्ध साहित्य को आधार बनाकर रचा है उसमें मूलाचार भी है। वह एक अध्ययनशील विद्वान थे और उपलब्ध सामग्री का पूर्ण उपयोग करने में कुशल थे। उनके अन. धर्मा. में नौ अध्याय है, क्रम वीरसेन के आचार सार जैसा है। धर्म स्वरूप निरूपण, सम्यक्त्वाराधना, ज्ञानाराधना, चारित्राराधना, पिण्ड शुद्धि, मार्ग महोद्योग (दसधर्म आदि का विवेचन) तप आराधना, आवश्यक निर्युक्ति, और नित्यनैमित्तिक क्रियाभिधान।

उक्त मुनिधर्म विषयक साहित्य मूलाचार के पश्चात् रचा गया है और उसकी रचना में मूलाचार का यथायोग्य उपयोग ग्रन्थकारों ने किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुन्दकुन्द और मूलाचार

इसमें तो सन्देह नहीं कि मूलाचार कुन्दकुन्द का ऋणी है किन्तु जैसा हम पहले लिख आये हैं वह हमें कुन्दकुन्दरचित प्रतीत नहीं होता। कुन्दकुन्द रचित नियमसार, प्रवचनसार, समयसार आदि ग्रन्थों में जो रचना वैशिष्ट्य है निरूपण की प्राञ्जलता है, अध्यात्म की पुट है वह मूलाचार में नहीं है, उनके प्रवचनसार के अन्त में आगत मुनिधर्म का वर्णन संक्षिप्त होनेपर भी कितना सारपूर्ण है यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है। इसके साथ ही मूलाचार के किन्हीं वर्णनों में उनके साथ एकरूपता भी नहीं है।

मूलाचार में जो सत्य और परिग्रह त्याग व्रत का स्वरूप कहा है वह मुनि के अनुरूप न होकर श्रावक के जैसा लगता है। यथा

रागादीहिं असच्चं चत्ता परतापसच्चवयणुत्तिं।
सुत्तत्थाणविकहणे अयधावयणुज्झणं सच्चं॥

अर्थात् राग आदि के वश से असत्य न बोले, जिससे दूसरे को सन्ताप हो ऐसा सत्य भी न बोले, सूत्र के अर्थ का अन्यथा कथन न करे या आचार्य के कथन में दोष न निकाले यह सत्य महाव्रत है।

इसमें पर संतापकारी सत्य वचन भी न बोले यह गृहस्थ के उपयुक्त कथन है। मुनि के लिये तो भाषा समिति में ही यह गर्भित है। इसी से आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार में कहा है—

रागेण व दोसेण व मोहेण व मोसभासपरिणामं।
जो पडिवज्जदि साहु सया विदियवयं होइ तस्सेव॥

जो साधु राग, द्वेष और मोह से झूठ बोलने के परिणामों को सदा के लिये छोड़ता है उसी के दूसरा व्रत होता है।

इसमें जो झूठ बोलने के परिणाम का त्याग कराया है वह महत्त्वपूर्ण है और कुन्दकुन्द की वाणी के वैशिष्ट्य का सूचक है।

मूलाचार में चतुर्थ व्रत का स्वरूप इस प्रकार कहा है—

मादुसुदाभगिणीवय दट्ठूणित्थित्तियं च पडिरूवं।
इत्थीकहादिणियती तिलोयपुज्जं हवे बंभं॥८॥

वृद्धा, बाला और युवती स्त्री के रूप को देखकर माता, पुत्री और भगिनी के समान मानना तथा स्त्री कथा आदि का त्याग ब्रह्मचर्य है।

इसके साथ नियमसार का कथन मिलाइये—

इहूण इत्थिरूवं वंछाभावं णिवत्तदे तासु।
मेहुणसण्णविवज्जिय परिणामो अहव तुरियपदं॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्त्री रूप को देखकर उनमें जो चाह रूप परिणाम नहीं करता, अथवा मैथुन संज्ञा से रहित परिणाम को चौथा व्रत कहते हैं। यह स्वरूप कितना जोरदार और यथार्थ है। परिणाम भी न होने से ही व्रत होता है यही जैन दृष्टि है।

मूलाचार में परिग्रह त्याग व्रत का स्वरूप इस प्रकार कहा है—

जीवणिबद्धा वद्धा परिग्गहा जीवसंभवा चेव।
तेसिं सक्कचागो इयरम्मि णिम्मओऽसंगो ॥९॥

जो परिग्रह जीव से निबद्ध हैं, तथा अबद्ध हैं और जो जीव से उत्पन्न होने वाली हैं उनका शक्ति के अनुसार त्याग करना और जो शेष हैं उनमें ममत्व न करना परिग्रह त्याग व्रत है।

इसमें शक्ति के अनुसार त्याग पद खटकता है। टीकाकार ने तो उन सब का मन वचन काय से सर्वथा त्याग बतलाकर उसे सम्हाल दिया है।

नियमसार में कुन्दकुन्दाचार्य लिखते हैं—

सव्वेसिं गंथाणं चागो णिखेक्टन भावणापूव्वं।
पंचमवदमिदि भणिदं चरित्तभारं वहंतस्स ॥

निरपेक्ष भावनापूर्वक समस्त परिग्रह के त्याग को चारित्र का भार वहन करनेवाले साधुओं का पांचवा परिग्रह त्यागव्रत कहा है।

इसी तरह व्रतों की भावनाओं में से तृतीयव्रत की भावना मूलाचार में बिलकुल भिन्न हैं।

मूलाचार में एक प्रकरण समयसार नाम से है, किन्तु कुन्दकुन्द के समयसार की उसमें छाया भी नहीं है। हां, साधु के योग्य जो शिक्षा उसमें दी गई है वह उपयुक्त है इसमें सन्देह नहीं, किन्तु समयसार नाम से ख्यात कुन्दकुन्द की दृष्टि की उसमें कोई बात नहीं है, अतः हमें वह कुन्दकुन्द की कृति प्रतीत नहीं होती। अस्तु।

मूलाचार का अन्तरंग परिचय

मूलाचार में साधु के आचार का वर्णन है अतः मूलाचार में प्रतिपादित साधु आचार का क्रमिक वर्णन करने से ही मूलाचार का अन्तरंग परिचय हो जाता है तथा उसके साथ ही साधु के आचार का भी क्रमिक परिचय हो जाता है। इसलिए हम साधु आचार के क्रमिक परिचय के द्वारा मूलाचार के विषय का परिचय कराते हैं।

दीक्षा और उसके योग्य पात्र—मूलाचार में दीक्षा के योग्य पात्र का तथा उसकी विधि वगैरह का वर्णन हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ। प्रवचनसार के चारित्राधिकार के प्रारम्भ में उसका संक्षिप्त आभास मिलता है कि जो मुनि दीक्षा लेना चाहता हैं वह अपने बन्धु बान्धवों से अनुज्ञा प्राप्त करके गणी के पास जाता है और उन्हें नमस्कार करके दीक्षा देने की प्रार्थना करता है। उनकी आज्ञा मिलने पर सिर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और दाढी के बालों का लुञ्चन करके यथाजात रूपधर (नग्न) हो जाता है तथा साधु के आचार को श्रवण करके श्रमण हो जाता है।

श्रमण के प्रकार—आचार्य कुन्दकुन्द ने श्रमण के दो प्रकार बताये हैं शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी। मुनि अवस्था में अर्हन्त आदि में भक्ति होना, प्रवचन के उपदेशक महामुनियों में अनुराग होना शुभोपयोगी श्रमण के लक्षण हैं। इसी तरह दर्शन ज्ञान का उपदेश देना, शिष्यों का ग्रहण और उनका पोषण करना, जिनेन्द्र की पूजा का उपदेश देना ये शुभोपयोगी श्रमण की चर्या है। कायविराधना न करके सदा चार प्रकार के मुनियों के संघ की सेवाशुश्रूषा भी शुभोपयोगी श्रमण का कार्य है। शुभोपयोगी मुनि रोग, भुख, प्यास और श्रम से पीड़ित श्रमण को देख कर अपनी शक्ति के अनुसार वैयावृत्य करता हैं (प्रव० ३।४७-५२)

मूलाचार में श्रमण के ये दो प्रकार नहीं किये हैं।

संघ के संचालक—मूलाचार में कहा है कि जिस संघ में आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर ये पांच न हों उसमें साधु को नहीं रहना चाहिए (४।१५५)। जो शिष्यों-साधुओं के अनुशासन में कुशल होता है उन्हें दीक्षा देता है वह आचार्य है। धर्म का उपदेशक मुनि उपाध्याय है। संघ के प्रवर्तक को, चर्या आदि के द्वारा उपकारक को प्रवर्तक कहते हैं। मर्यादा के रक्षक को स्थविर कहते है और गण के पालक को गणधर कहते है (४।१५६)। प्रवचनसार (३।१०) में एक दीक्षागुरु और निर्यापक का निर्देश मिलता है जो दीक्षा देता है उसे गुरु कहते हैं। यह कार्य प्रायः आचार्य कहते हैं। किन्तु व्रत में दूषण लगने पर जो प्रायश्चित्त देकर संरक्षण करते हैं वे निर्यापक कहे जाते हैं। आचार्य जयसेन ने इन्हें शिक्षागुरु और श्रुतगुरु कहा है।

गण-गच्छ-कुल—संघ के भीतर संभवतया व्यवस्था के लिए अवान्तर समूह भी होते थे। तीन श्रमणों का गण होता था और सात श्रमणों का गच्छ होता था। टीकाकार ने लिखा है—'त्रैपुरुषिको गणः, साप्तपुरुषिको गच्छः' (४।१५३)। गा० ५।१९२ की टीका में भी टीकाकार ने गच्छ का अर्थ सप्त पुरुष सन्तान किया है—'गच्छे सप्तपुरुषसन्ताने।' कुल का अर्थ टीकाकार ने (४।१६६) गुरु-सन्तान किया है और गुरु का अर्थ दीक्षादाता। अर्थात् एक ही गुरु से दीक्षित श्रमणों की परम्परा को कुल कहते हैं। पूज्यपादस्वामी ने भी सर्वार्थसिद्धि में (९।२४) दीक्षाचार्य की शिष्य सन्तती को कुल कहा है। और स्थविर सन्तति को गण कहा है।

मूलाचार में (५।१९२) वैय्यावृत्य का स्वरूप बतलाते हुए कहा है—'बाल वृद्धों से भरे हुए गच्छ में अपनी शक्ति के अनुसार वैयावृत्य करना चाहिये।'

किन्तु आगे समयसाराधिकार में कहा है—

वरं गणपवेसादो विवाहस्स पवेसणं।
विवाहे रागउप्पत्ति गणो दोसाणमागरो ॥९२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गण में प्रवेश करने से विवाह कर लेना उत्तम है। विवाह में राग की उत्पत्ति होती है और गण दोषों का आकर है।

टीकाकार ने इसकी टीका में लिखा है कि यति अन्त समय में यदि गण में रहता है तो शिष्य वगैरह के मोहवश पार्श्वस्थ साधुओं के सम्पर्क में रहेगा। इस से तो विवाह करना श्रेष्ठ है क्यों कि गण सब दोषों का आकर है।

इस से ऐसा लगता है कि उस समय में गण में पार्श्वस्थ साधुओं का बाहुल्य हो गया था। अन्यथा ऐसा कथन ग्रन्थकार को क्यों करना पड़ता ?

साधु के मूल गुण—मूलाचार के प्रथम अधिकार में साधु के मूलगुणों का कथन है। मूलगुण का अर्थ है प्रधान अनुष्ठान, जो उत्तरगुणों का आधारभूत होता है। वे २८ है—

पंचय महव्वयाइं समिदीओ पंच जिणवरुवदिट्ठा।
पंचेविंदिय रोहा छप्पिय आवासया लोचो ॥२॥
अच्चेलकमण्हाणं खिदिसयणमदंत धंसणं चेव।
ठिदि भोयणमेय भत्तं मूलगुणा अट्ठवीसा दु ॥३॥

पांच महाव्रत, पांच समिति, पांचो इन्द्रियों का रोध, छ आवश्यक, केशलोच, अचेलक–नग्नता, स्नान न करना, पृथ्वीपर शयन करना, दन्त घर्षण न करना, खडे होकर भोजन करना, एकबार भोजन, ये २८ मूलगुण है।

साधु के आवश्यक उपकरण–उक्त मूल गुणों के प्रकाश में दिगंबर जैन साधु की आवश्यकताएं अत्यन्त सीमित हो जाती हैं। नग्नता के कारण उसे किसी भी प्रकार के वस्त्र की आवश्यकता नहीं रहती। हाथ में भोजी होने से पात्र की आवश्यकता नहीं रहती। वह केवल शौच के लिये एक कमण्डल और जीव रक्षा के निमित्त एक मयूरपिच्छिका रखता है। शयन करने के लिये भूमि या शिला या लकडी का तख्ता या घास पर्याप्त है। इन के सिवाय साधु की कोई उपधि नहीं होती। मूलाचार (१।१४) में तीन उपधियाँ बतलाई हैं—ज्ञानोपधि पुस्तकादि, संयमोपधि–पिच्छिकादि, शौचोपधि–कमण्डलु आदि।

निवास स्थान—मूलाचार (१०।५८-६०) में लिखा है– जिस स्थान में कषाय की उत्पत्ति हो, आदर का अभाव हो, इन्द्रिय राग के साधनों का प्राचुर्य हो, स्त्री बाहुल्य हो, तथा जो क्षेत्र दुःख बहुल, उपसर्गबहुल हो उस क्षेत्र में साधु को नहीं रहना चाहिये। गिरिकी गुफा, स्मशान, शून्यागार, वृक्षमूल ये स्थान विराग बहुल होने से साधु के योग्य हैं। जिस क्षेत्र में कोई राजा न हों या दुष्ट राजा हो, जहां श्रोता ग्रहणशील न हों संयम का घात संभव हो, वहां साधू को नहीं रहना चाहिये।

ईर्या समिति—यों तो साधु को वर्षावास के चार माह छोड़कर सदा भ्रमण करते रहना चाहिये भ्रमण करते समय ईर्या समिति पूर्वक गमन करने का विधान है। मूलाचार (५।१०७-१०९) में कहा है जब सूर्य का उदय हो जाये, सब ओर प्रकाश फैल जाये, देखने में कोइ बाधा न हो तब स्वाध्याय, प्रतिक्रमण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और देव वन्दना करके आगे चार हाथ जमीन देखते हुए स्थूल और सूक्ष्म जीवों को सम्यक् रीति से देखते हुए सावधानतापूर्वक सदा गमन करना चाहिये। तथा प्रासुक मार्ग से ही गमन करना चाहिये। जिस मार्ग पर बैलगाडी, रथ, हाथी, घोडे मनुष्य जाते आते हो वह मार्ग प्रासुक है। जिस मार्ग से स्त्री पुरुष जाते हो या जो सूर्य के धाम से तप्त हो, जोता गया हो वह मार्ग प्रासुक है।

मूलाचार (९'३१) में विहार शुद्धि का कथन करते हुए लिखा है कि समस्त परिग्रह से रहित साधु वायु की तरह निःसंग होकर कुछ भी चाह न रख कर पृथ्वी पर विहार करते हैं। वे तृण, वृक्ष छाल, पत्ते, फल, फूल, बीज वगैरेह का छेदन न करते हैं न कराते हैं। पृथ्वीका खोदना आदि न करते हैं, न कराते हैं, न अनुमोदना करते हैं, जल सेचन, पवन का आरम्भ,[1] अग्निका ज्वालन आदि भी न करते हैं न कराते हैं और न अनुमोदन करते हैं।

एकत्र आवास का नियम—यह हम लिख आये है कि साधु को वर्षा में एक स्थान पर रहना चाहिये किन्तु साधारणतया साधु को नगर में पांच दिन और ग्राममें एक रात वसने का विधान है (९।१९)। टीका में लिखा है कि पांच दिन में तीर्थयात्रा वगैरह अच्छी तरह हो सकती है। इससे अधिक ठहरने से मोह आदि उत्पन्न होने का भय रहता है।

किन्तु मूलाचार के समयसाराधिकार में साधु के दस कल्प बतलाये है उनमें एक मास कल्प है। उसकी टीका में लिखा है को साधु का वर्षायोग ग्रहण करने से पहले एक मास रहना चाहिये फिर वर्षायोग ग्रहण करना चाहिये और वर्षायोग समाप्त कर के एक मास रहना चाहिये। वर्षायोग से पूर्व एक मास रहने में दो हेतु बतलाये हैं—लोगों की स्थिति जानने के लिये तथा अहिंसा आदि व्रतों के पालन के लिये। और वर्षायोग के पश्चात् एक मास ठहरने का कारण बतलाया है—श्रावक लोगों को जाने से जो मानसिक कष्ट होता है उसके दूर करने के लिये। दूसरा अर्थ मास का यह किया है कि एक ऋतु में दो मास होते हैं। एक मास भ्रमण करना चाहिए और एक मास एकत्र रहना चाहिये।

भगवती आराधना में भी (गा. ४२१) ये दस कल्प हैं। उसकी विजयोदया टीका में लिखा है छ ऋतुओं में एक एक महीना ही एकत्र रहना चाहिये, एक महीना विहार करना चाहिये। इसका मतलब भी एक ऋतु में एक मास एकत्र अवस्थान और एक मास भ्रमण है।

भिक्षा भोजन—मूलाचार में भोजन के योग्यकाल का कथन करते हुए लिखा है—

सूरुदयत्थमणादो णालीतियवज्जिदे असणकाले।
तिगदुग एगमुहुत्ते जहण्णमज्झिम्ममुक्कस्से ६।७३।

अर्थात् सूर्योदय से तीन घटिका पश्चात् और सूर्यास्त से तीन घटिका पूर्व साधु का भोजन काल है। तीन

१. आज के युग में बिजली के पंखे और लाइट के उपयोग में भी कृत, कारित अनुमोदन नहीं होना चाहिये। इन का उपयोग करने से अनुमोदना तो होती ही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुहुर्त में भोजन करना जघन्य आचरण है, दो मुहुर्त में करना मध्यम आचरण है और एक मुहुर्त में भोजन कर लेना उत्कृष्ट आचरण है ।

भोजन को छियालीस दोष बचाकर ग्रहण करना चाहिये । इनका कथन पिण्ड शुद्धि नामक छठे अधिकार में किया है । साधरण तया भोजन 'नवकोटि परिशुद्ध' होना चाहिये अर्थात मनसा वाचा कर्मणा तथा कृत कारित अनुमोदन से रहित होना चाहिये ।

मूलाचार में कहा है—

भिक्खं सरीरजोग्गं सुभत्तिजुत्तेण फासुयं दिण्णं ।
दव्वपमाणं खेतं कालं भावं च णादूण ॥ ५२ ॥
णवकोडीपडिसुद्धं फासुय सत्थं च एसणासुद्धं ।
दसदोसविप्पमुक्कं चोद्दसमलवज्जियं भुंजे ॥ ५३ ॥

अर्थात् भक्तिपूर्वक दिये गये, शरीर के योग्य, प्रासुक, नवकोटि विशुद्ध एषणा समिति से शुद्ध, दस दोषों और चौदह मलों से रहित भोजन को द्रव्य क्षेत्र काल भाव को जानकर खाना चाहिये ।

स्थिति भोजन का स्वरूप स्पष्ट करते हुए टीकाकार ने लिखा है । साधु को बिना किसी सहारे के खड़े होकर अपने अञ्जलिपुर में आहार ग्रहण करना चाहिये । दोनों पैर सम होने चाहिये और उनके मध्य में चार अंगुल का अन्तराल होना चाहिये । भूमित्रय–जहां साधु के पैर हों तथा जहां जूठ न गिरे वे तीनों भूमियाँ परिशुद्ध–जीव घातरहित होना चाहिये ।

साधु को अपना आधा पेट भोजन से भरना चाहिये । एक चौथाई जल से और एक चौथाई वायु के लिये रखना चाहिये । भोजन का परिमाण बत्तीस ग्रास कहा है और एक हजार चावलों का एक ग्रास कहा है (५।१५३) । टीका में कहा है कि बत्तीस ग्रास पुरुष का स्वाभाविक आहार है । भोजन के अन्तरायों का भी विवेचन दृष्टव्य है ।

दैनिक कृत्य—साधु को अपना समय स्वाध्याय और ध्यान में विशेष लगाना चाहिये । मूलाचार (५।१२१) की टीका में साधु की दिनचर्या इस प्रकारही है । सूर्योदय होने पर देववन्दना करते हैं । दो घड़ी बीत जाने पर श्रुतभक्ति और देवभक्ति पूर्वक स्वाध्याय करते हैं । इस तरह सिद्धान्त आदि की वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा और पाठादि करते हैं । जब मध्याह्नकाल प्राप्त होने में दो घड़ी समय शेष रहता है तो श्रुतभक्तिपूर्वक स्वाध्याय समाप्त करते हैं । फिर अपने वासस्थान से दूर जाकर शौच आदि करते हैं । फिर हाथ पैर आदि धोकर कमण्डलु और पीछी लेकर मध्याह्नकालीन देववन्दना करते हैं । फिर पूर्णोदर बालकों को तथा भिक्षा आहार करने वाले अन्य लिंगियो को देखकर भिक्षा का समय ज्ञात करके जब गृहस्थों के घर से धुआं निकलता दृष्टिगोचर नहीं होता तथा कूटने पीसने का शब्द नहीं आता तब गोचरी के लिये चलते हैं । जाते हुए न अतितीव्र गमन करते हैं, न मन्द गमन करते हैं और न रुक रुक कर गमन करते हैं । गरीब और अमीर घरों का विचार नहीं करते । मार्ग में न किसी से बात करते हैं और न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहीं ठहरते हैं। हसी आदि नहीं करते। नीच कुलों में नहीं जाते। सूतक आदि दोष से दूषित शुद्धकुलों में भी नहीं जाते। द्वारपाल आदि के द्वारा निषिद्ध घरों में नहीं जाते। जहां तक भिक्षाप्रार्थी जा सकते हैं वहीं तक जाते हैं। विरोध वाले स्थानों में नहीं जाते। दुष्ट, गधे, ऊंट, भैंस, बैल, हाथी, सर्प आदि को दूर से ही बचा जाते हैं। मदोन्मत्तों के निकट से नहीं जाते। स्नान विलेपन आदि करती हुई स्त्रियों की ओर नहीं देखते। विनयपूर्वक प्रार्थना किये जाने पर ठहरते हैं। सम्यक विधिपूर्वक दिये गये प्रासुक आहार को सिद्ध भक्तिपूर्वक ग्रहण करते हैं। पाणि रूपी पात्र को छेद रहित करके नाभि के पास रखते हैं। हाथरूपी पात्र में से भोजन नीचे न गिराकर शुरशुर आदि शब्द न करते हुए भोजन करते है। स्त्रियों की ओर किञ्चित् भी नहीं ताकते। इस प्रकार भोजन करके मुख, हाथ, पैर धोकर शुद्धजल से भरे हुए कमण्डलु को लेकर चले आते हैं। धर्म कार्य के बिना किसी के घर नहीं जाते। फिर जिनालय आदि में जाकर प्रत्याख्यान ग्रहण करके प्रतिक्रमण करते हैं।

षडावश्यक—साधु की उक्त दिनचर्या में षडावश्यकों का विशिष्ट स्थान हैं। वे हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग। मूलाचार (७।२०) में कहा है—

जं च समो अप्पाणं परे य मादूय सव्वमहिलासु।
आपियपियमाणादिसु तो समणो तो य सामइयं॥

यतः स्व और पर में सम है—रागद्वेष रहित है, यतः माता में और सब महिलाओं के प्रती सम है, प्रिय और अप्रिय में मान, अपमान में सम है इसी लिये उसे शमन या श्रमण कहते हैं और उसी के सामायिक होती है।

अर्थात् सब में समभाव रखना ही सामायिक है। समस्त सावधयोग को त्यागकर तीन गुप्तिपूर्वक पांचो इन्द्रियों का निरोध करना सामायिक है। जिसकी आत्मा नियम संयम तप में लीन है उसी के सामायिक है, जो त्रस स्थावर आदि सब प्राणियों में समभाव है वही सामायिक है। आर्तध्यान रौद्रध्यान को छोड़कर धर्मध्यान शुक्लध्यान करना सामायिक है। साधु शुद्ध होकर खड़े होकर अपनी अंजलि में पिच्छिका लेकर एकाग्रमन से सामायिक करता है। उसके बाद चौबीस तीर्थङ्करों का स्तवन करता है कि मुझे उत्तम बोधि प्राप्त हो। यह स्तवन भी खड़े होकर दोनों पैरों के मध्य में चार अंगुल का अन्तर रखकर प्रशान्त मन से किया जाता है।

गुरुओं की वन्दना कई समयों में की जाती है। वन्दना का अर्थ है विनयकर्म। उसे ही कृतिकर्म भी कहते हैं। सामायिक स्तवपूर्वक चतुर्विंशतिस्तव पर्यन्त जो विधि की जाती है उसे कृतिकर्म कहते हैं। प्रतिक्रमण काल में चार कृतिकर्म और स्वाध्याय काल में तीन कृतिकर्म इस तरह पूर्वाह्ण में सात और अपराह्ण में सात कुल चौदह कृतिकर्म होते हैं। इनका खुलासा टीका में किया है। एक कृतिकर्म में दो अवनति–भूमिस्पर्शपूर्वक नमस्कार, बारह आवर्त और चार सिर–हाथ जोड़कर मस्तक से लगाना होते है।

कृत, कारित और अनुमत दोषों की निवृत्ति के लिये जो भावना की जाती है उसे प्रतिक्रमण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहते हैं। प्रतिक्रमण के छै भेद हैं—दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक। मूलाचार (७।१२९) में कहा है—

सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
अवए हे पडिकमणं मज्झिमयाणं जिणवराणं ॥

भगवान ऋषभदेव और भगवान महावीर का धर्म सप्रतिक्रमण था अपराध हुआ हो या न हुआ हो प्रतिक्रमण करना अनिवार्य है। शेष बाईस तीर्थङ्करों के धर्म में अपराध होनेपर प्रतिक्रमण किया जाता।

तथा मध्यम तीर्थङ्करों के समय में जिस व्रत में दोष लगता था उसी का प्रतिक्रमण किया जाता था किन्तु प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर के धर्म में एक व्रत में भी दोष लगने पर पूरा प्रतिक्रमण किया जाता था इसका कारण बतलाते हुए लिखा है कि मध्यम तीर्थङ्करों के शिष्य दृढ़बुद्धि, स्थिरचित और अमूढ़मना होते थे अतः वे जो दोष लगाते थे उसकी गर्हा करने से शुद्ध हो जाते थे। किन्तु प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर के शिष्य साधु चलचित्त और मूढ़मन होते थे इस लिये उन्हे सर्व प्रतिक्रमण करना आवश्यक है।

पच्छणं आवश्यक प्रत्याख्यान है। अतिचार के कारण सचित्त अचित्त और सचित्ताचित्त द्रव्य के त्याग को और तप के लिये प्रासुक द्रव्य से भी निवृत्ति को प्रत्याख्यान कहते हैं। उसके दस भेद हैं—अनागत, अतिक्रान्त, कोटिसहित, निखण्डित, साकार, अनाकार, परिमाणगत, अपरिशेष, अध्वानगत, सहेतुक। मूलाचार में (७।१३७–१४९) सब का स्वरूप बतलाया है।

काय अर्थात् शरीर के उत्सर्ग–परित्याग को कायोत्सर्ग कहते हैं—

वोसरिद बाहु जुगलो चदुरंगुल मन्तरेण समपादो।
सव्वगं चलणरहिओ काउस्सग्गो विसुद्धो दु ॥ (७।१५३)

दोनों हाथों को नीचे लटकाकर, दोनों पैरों को चार अंगुल के अन्तराल से बराबर में रखते हुए खड़े होकर समस्त अंगों का निश्चल रहना विशुद्ध कायोत्सर्ग है।

गुप्तियों के पालन में व्यतिक्रम होने पर, व्रतों में व्यतिक्रम होने पर षट्काय के जीवों की रक्षा में या सात भय और आठ मदों के द्वारा व्यतिक्रम होने पर उसकी विशुद्धि के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है। कायोत्सर्ग का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त कहा है। कायोत्सर्ग का प्रमाण विभिन्न कार्यों के लिए विभिन्न बतलाया है जैसे दैवासिक प्रतिक्रमण में कायोत्सर्ग का प्रमाण १०८ उच्छ्वास है रात्रिक प्रतिक्रमण में ५४ उच्छ्वास है।

आचार्य कुन्द कुन्द के नियमसार में भी आवश्यकों का कथन है वह इससे भिन्न है। उन्हों ने कहा है वचनमय प्रतिक्रमण, वचनमय प्रत्याख्यान, वचनमय आलोचना तो स्वाध्याय है। यदि प्रतिक्रमणादि करने में शक्ति है तो ध्यानमय प्रतिक्रमण कर।

प्रायश्चित्त—जिस तप के द्वारा पूर्वकृत पाप का शोधन किया जाता है उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। प्रायश्चित्त के दस भेद हैं—आलोचना, प्रतिक्रमण, उभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रद्धान। आचार्य से दोष का निवेदन करना आलोचना है। मेरा दोष मिथ्या हो इस प्रकार की भावना-पूर्वक प्रतिक्रमण करना प्रतिक्रमण है। आलोचना और प्रतिक्रमण को उभय कहते हैं। विवेक के दो प्रकार हैं गणविवेक और स्थानविवेक। कायोत्सर्ग को व्युत्सर्ग कहते हैं। अनशन आदि को तप कहते हैं। पक्ष मास आदि के द्वारा दीक्षा का छेदन छेद है। पुनः दीक्षा देना मूल है। परिहार के दो भेद हैं गण प्रतिबद्ध और अप्रतिबद्ध। मुनियों के द्वारा नमस्कार न किया जाना गण प्रतिबद्ध परिहार है। गण से अन्यत्र जाकर मौनपूर्वक तपश्चरण करना अगण प्रतिबद्ध परिहार है। तत्त्वरुचि होना या क्रोधादि न करना श्रद्धान है। दोष के अनुरूप प्रायश्चित्त देने का विधान है (मूला., ५।१६५)। तत्त्वार्थसूत्र में मूल के स्थान में उप-स्थापना है किन्तु अर्थ में अन्तर नहीं है।

आर्या के साथ संपर्क निषिद्ध—मूलाचार (४+१७७ आदि) में लिखा है कि आर्या के आने पर मुनि को ठहरना नहीं चाहिए अर्थात् उसके साथ एकाकी नहीं रहना चाहिए और धर्मकार्य के सिवाय वार्तालाप भी नहीं करना चाहिए। यदि वह एकाकी कुछ प्रश्न करे तो उत्तर नहीं देना चाहिए। यदि वह गणिनी को आगे करके पूँछे तो उत्तर देना चाहिए।

यदि कोई तरुण मुनि तरुण आर्या के साथ वार्तालाप करता है तो वह पांच दोषों का भागी होता है। मुनि को आर्या के निवास स्थान पर नहीं ठहरना चाहिए। न वहाँ स्वाध्याय आदि करना चाहिए। क्यों कि चिरकाल के दीक्षित वृद्ध आचार्य और बहुश्रुत तपस्वी भी काम से मलिन चित्त होने पर सब नष्ट कर देते हैं। यदि ऐसा न हो तो भी क्षणभर में अपवाद फैल जाता है अतः कन्या, विधवा, आर्या आदि का सहवास नहीं करना चाहिए। इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि यदि आर्या का संसर्ग सर्वथा त्याज्य है तो उनका प्रतिक्रमणादिक कैसे सम्भव है? इसके उत्तर में कहा है कि आर्यायों का गणधर गम्भीर, मितवादी चिरदीक्षित पापभीरु दृढ़व्रती निग्रह अनुग्रह में कुशल मुनि होता है। यदि इन गुणों से रहित व्यक्ति आर्याओं का गणधर होता है तो वह गण आदि घातक होने से चार प्रायश्चित्तों का भागी होता है।

आर्या की चर्या—आर्या की चर्या भी मुनि की तरह होती है। उनका वस्त्र तथा वेश विकार रहित होता है, शरीर मल से लिप्त रहता है, तप संयम स्वाध्याय में अपना समय बिताती है। एक साथ दो तीन या अधिक रहती हैं। बिना प्रयोजन किसी के घर नहीं जाती। जाना आवश्यक हो तो गणिनी से पूँछकर अन्य आर्यिकाओं के साथ जाती है; रोना, स्नान, भोजन बनाना आदि नहीं करती। मुनियों के पैर धोना, तेल लगाना, पग चम्पी भी नहीं करती। भिक्षा के लिए तीन या पांच या सात आर्यिकाएँ वृद्धाओं के साथ जाती हैं। आचार्य को पांच हाथ की दूरी से, उपाध्याय को छह हाथ की दूरी से और साधु को सात हाथ की दूरी से गवासन नमस्कार करती हैं।

इस प्रकार मूलाचार में मुनियों और आर्यिकाओं के आचार का वर्णन है। जो मुनियों और आर्यिकाओं को विशेष रूप से पढ़ना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org